

आज के अशान्त युग में महावीर-वाणी की उपादेयता

आधुनिक युग में विज्ञान और तकनीकी ने आशातीत प्रगति की है। आज मनुष्य ने प्रकृति के साधनों पर विजय प्राप्त कर ली है। आवागमन के साधनों के विकास ने राष्ट्रों के बीच की दूरियों को कम कर दिया है। लेकिन क्या हम कह कहते हैं कि आज का मानव प्राचीन युग की तुलना में अधिक सुखी, आनन्दित एवं प्रसन्न है? शायद नहीं। इसका कारण यह है कि मनुष्य के मन और बुद्धि का तो विकास हुआ है पर उसके हृदय का विकास नहीं हो सका है। महाकवि रामधारीसिंह 'दिनकर' के शब्दों में -

“बुद्धि तृष्णा की दासी हुई, मृत्यु का सेवक है विज्ञान।
चेतता अब भी नहीं मनुष्य, विश्व का क्या होगा भगवान्?”

आज दुनिया के विकसित कहे जानेवाले राष्ट्र अनेक प्रकार के भीषण शक्तिशाली अस्त्र-शस्त्रों के उत्पादन में लगे हुए हैं। पिछले विश्वयुद्ध में जापान के हीरोशिमा और नागासाकी में जो बम गिरे थे, उनसे लाखों व्यक्ति हताहत हुए थे तथा वहाँ का जल और वायु विषाक्त हो गया था और अनेक बीमारियाँ फैल गई थीं। लेकिन आज उनसे बहुत अधिक शक्तिशाली अणु और परमाणु ही नहीं, इस प्रकार के रासायनिक बमों व आयुधों का निर्माण हो चुका है, जो कुछ ही समय में समस्त मानव-जाति के विनाश की सामर्थ्य रखते हैं। आर्थिक प्रतियोगिता की अंधी दौड़ तथा अनियंत्रित स्वतंत्रता ने मनुष्य का जीवन अशांत बना दिया है।

इस प्रकार की भीषण परिस्थिति में विश्व के चिंतक अब यह सोचने हेतु बाध्य हो रहे हैं कि इन कठिनाइयों से मानव के त्राण का क्या उपाय हो सकता है?

जैन आगम ग्रंथों में इन समस्याओं के समाधान का विशद विवेचन मिलता है। वहाँ पर हिंसा और अहिंसा की गंभीर व्यवस्था उपलब्ध है। अहिंसा जैनधर्म का प्राण है। अहिंसा का अर्थ मात्र इतना ही नहीं है कि किसी प्राणी की हिंसा न की जाय, इसका विधेयात्मक अर्थ है, विश्व के समस्त प्राणियों के प्रति प्रेम, बन्धुत्व एवं आत्मीयता की भावना का विकास किया जाय। यह भावना मात्र मनुष्य-जाति के प्रति ही नहीं, किन्तु समस्त प्राणी जगत के प्रति व्याप्त हो।

जैनधर्म की मान्यता है कि मनुष्य और प्रकृति में घनिष्ठ संबंध है तथा दोनों एक-दूसरे पर आश्रित हैं। सृष्टि के प्रत्येक जीव को जीने का अधिकार है— केवल मनुष्य-मात्र को ही नहीं, पशु-पक्षी, वनस्पति इत्यादि सभी को जीने का हक है। भगवान महावीर ने कहा—

“सव्वे पाणा पियाउया, सुहसाया, दुक्खपडिवूला।
अपियवहा पियजीविणो, जीविउकामा सव्वेसिं जीवियं पियं।।”

अर्थात् सभी प्राणियों को अपना जीवन प्रिय है, सुख अनुकूल है, दुःख प्रतिकूल है। वध सबको अप्रिय है। सभी दीर्घ जीवन की कामना करते हैं।

—आचारांग सूत्र १/२/३/६३

यह समझकर किसी जीव को त्रास नहीं पहुँचाना चाहिये।
((“न य वित्तासए पर।)”)’

—उत्तराध्ययन सूत्र २/२०

किसी जीव के प्रति वैर-विरोध भाव नहीं रखना चाहिये।
((“ण विरुज्जेज्ज कोणई।”)’)

—सूत्रकृतांग सूत्र १/१५/१३

सब जीवों की प्रति मैत्री भाव रखना चाहिये। ((“मित्तिं भूएहिं कप्पए”)’ — उत्तरा सूत्र ६/२

प्राणी-मात्र के प्रति प्रेम व आत्मीयता की भावना की विस्तृत व्याख्या आचारांग सूत्र के निम्न पदों में मिलती है—

“तुमंसि णाम सच्चेव (तं चेव) जं हंतव्वं हि मण्णसि।
तुमंसि णाम सच्चेव जं अज्जावेयत्वं ति मण्णसि।
तुमंसि णाम सच्चेव जं परियावेयववं ति मण्णसि।
तुमंसि णाम सच्चेव जं परिघेत्तव्वं ति मण्णसि।
तुमंसि णाम सच्चेव जं उद्देवव्वं ति मण्णसि।
अंजू चेय पडिबुद्धिजीवी। तम्हा ण हंता ण वि घायए।
अणुसंवेयणमप्पाणेणं जं हंतव्वं णाभिपत्थए।।”

—आचारांग सूत्र १, ५/५, १७०

अर्थात् हे पुरुष। जिसे तू मारने की इच्छा करता है, विचार कर वह तू ही है— तेरे जैसा ही सुख-दुःख का अनुभव करने वाला प्राणी है, जिस पर तू हुकूमत करने की इच्छा करता है, विचारकर वह तेरे जैसा ही प्राणी है, जिसे परिताप-दुःख देने योग्य समझता है, चिन्तन कर वह तेरे जैसा ही प्राणी है, जिसे तू वश में करने की इच्छा करता है, जरा सोच तेरे जैसा ही प्राणी है, जिसके तू प्राण लेने की इच्छा करता है, विचार कर वह तेरे जैसा ही प्राणी है।

सत्पुरुष इसी तरह विवेक रखता हुआ जीवन बिताता है। वह न स्वयं किसी का हनन करता है और न औरों द्वारा किसी का हनन करवाता है।

भगवान महावीर ने अहिंसा को धर्म के लक्षणों में सर्वप्रथम स्थान दिया। दशवैकालिक सूत्र में कहा गया है— धर्म उत्कृष्ट मंगल है। अहिंसा, संयम और तप उसके लक्षण हैं। जिसका मन सदा धर्म में रमता रहता है, उसे देवता भी नमस्कार करते हैं।

प्रत्येक जैन श्रावक को पाँच महाव्रतों— अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह का आजीवन पूर्णतया पालन करना आवश्यक है। इन सब में अहिंसा का प्रथम स्थान है। सत्यादि दूसरे गुण अहिंसा के पोषक व रक्षक हैं।

विश्व में अशान्ति का पहला कारण हिंसा की भावना है, जिसके निराकरण के लिए अहिंसा की भावना को व्यवहार में लाना अति आवश्यक है। विश्व में अशान्ति का दूसरा बड़ा कारण है— मनुष्य का अपने आत्मत्व का विस्मरण। संसार में जितने भी तत्व हैं, उन्हें तीन भागों में विभक्त किया गया है— हेय, ज्ञेय, और उपादेय, तत्व कुल नौ हैं। इनमें जीव (आत्मतत्व) मुख्य है। जीव, अजीव व पुण्य का ज्ञेय, पाप, आश्रव व बंध को हेय तथा संवर, निर्जरा व बंध को उपादेय कहा है।

जीव (आत्मा) को कर्मों का कर्ता माना गया है। 'द्वादशांग अनुप्रेक्षा' में कहा है कि आत्मा उत्तम गुणों का आश्रय है, समग्र द्रव्यों में उत्तम द्रव्य है और सब तत्वों में परम तत्व है। आत्मा तीन प्रकार की है— बहिरात्मा, अंतरात्मा और परमात्मा।

आत्मा और शरीर पृथक्-पृथक् हैं। आत्मा अविनाशी तत्व है। शरीर विनाशी-विनष्ट होने वाला तत्व है। इसीलिए इसे पुद्गल कहा गया है। आत्मा को कैसे जाना जा सकता है? इसका उत्तर आचार्य कुंदकुंद ने 'समयसार की गाथा' २९६ में दिया है। वहाँ पर कहा गया है कि आत्मा को आत्मप्रज्ञा अर्थात् भेदविज्ञान रूप बुद्धि द्वारा ही जाना जा सकता है।

आत्मा के बारे में महावीर ने कहा—

“अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिय-सुप्पट्ठिओ।”

—उत्तराध्ययन सूत्र २०/३

अर्थात् आत्मा ही सुख और दुःख की उत्पन्न करने वाली और न करने वाली है। आत्मा ही सदाचार से मित्र और दुराचार से शत्रु है। अपनी आत्मा को जीतना ही सबसे कठिन कार्य है—

“जे सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जए जिणे।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ।”

अर्थात् दुर्जय संग्राम में सहस्र-सहस्र शत्रुओं को जीतने की अपेक्षा एक अपनी आत्मा को जीतना परम जय है— महान् विजय है। जो अपनी आत्मा को जीत लेता है, वही सच्चा संग्राम विजेता है।

आत्मा पर विजय प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि चार कषायों पर विजय प्राप्त की जाय। आत्म-विजय का सुन्दर विश्लेषण निम्न सूत्र में उपलब्ध है—

“एगे जिए जिया पंच, पंच जिए जिया दस।
दसहा उ जिणित्ताणं, सव्वसत्तू जिणामहं।”

—उत्तराध्ययन सूत्र २३/३६

अर्थात् एक को जीत लेने पर मैंने पाँच को जीत लिया, पाँच को जीत लेने से मैंने दस को जीत लिया और दसों को जीत लेने पर मैंने सभी शत्रुओं को जीत लिया है। मनुष्य को चार कषायों पर कैसे विजय प्राप्त करनी चाहिये—

“उवसमेण हणे कोहं, माणं मदवया जिणे।
मायं अज्जुवभावेणं, लोभं संतोषओ जिणे।”

—दशवैकालिक सूत्र ८/३९

अर्थात् क्रोध को उपशम-शान्ति से (क्षमा से), मान को मार्दव-मृदुला से, माया को ऋजुभाव-सरलता से और लोभ को संतोष से जीतें।

इन कषायों के कारण सदगुणों का विनाश होता है, यथा—

“कोहो पीइं पणोसेइ, माणो विणय नासणो।
माया मित्ताणि नासेइ, लोहो सव्व विणासणो।”

अर्थात् क्रोध प्रीति को नष्ट करता है, मान विनय को नष्ट करता है, माया धूर्तता (जालसाजी) मैत्री को नष्ट करती है और लोभ सब कुछ नष्ट कर देता है।

भगवान महावीर ने कहा कि संसार के प्राणियों के लिए चार बातें बहुत दुर्लभ हैं—

“चत्तारि परमंगाणि, दुल्लहाणीह जंतुणो।
माणुसत्तं सुई सद्धा, संजममि य वीरियं।”

अर्थात् संसार के प्राणियों को चार परम अंग—उत्तम संयोग—अत्यंत दुर्लभ हैं—(१) मनुष्य-भव, (२) धर्म-श्रुति (धर्म का सुनना) धर्म में श्रद्धा और (४) संयम में (धर्म में) वीर्य पराक्रम।

“माणुसत्तामि आयाओ, जो धम्मं सोच्चासदहे।
तवस्सी वीरियं लद्धुं, संवुडे निद्धणे रयं॥

—उत्तराध्ययन सूत्र ३/११

अर्थात् मनुष्य-जन्म पाकर जो धर्म को सुनता और उसमें श्रद्धा करता हुआ उसके अनुसार पुरुषार्थ आचरण करता है, वह तपस्वी आगामी कर्मों को रोकता हुआ संचित कर्म रूपी रज को धुन डालता है।

मनुष्य-जीवन के उत्थान का जो मार्ग है, उसे रत्न-त्रय (त्रि-रत्न) कहा गया है। तत्त्वार्थ सूत्र में कहा है—

“सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः”

—तत्त्वार्थ सूत्र १/१

अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र— इन तीनों का समन्वित रूप (ये तीनों मिलकर) मोक्ष का साधन हैं।

पंचास्तिकाय सूत्र सं० १६० में कहा गया है— धर्मास्तिकाय आदि (छह द्रव्य) तथा तत्त्वार्थ आदि में श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। अंगों और पूर्वों का ज्ञान सम्यक् ज्ञान है। तप में प्रत्ययशीलता सम्यक् चारित्र है। यह व्यवहार-आचार मोक्षमार्ग है।

सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान नहीं होता। ज्ञान के बिना चारित्र नहीं सधता। जीवन के उत्थान के लिए ज्ञान और क्रिया का समन्वय होना आवश्यक है। यह बात ‘आचारांग निर्युक्ति’ में बड़े ही सुन्दर ढंग से स्पष्ट की गई है—

“हयं नाणं किया हीणं, हया अण्णाणओ किया।

पासंतो पंगुलो दड्ढो, धावमाणो य अंधओ॥”

—आचारांग निर्युक्ति १०१

अर्थात् क्रियाहीन का ज्ञान व्यर्थ है और अज्ञानी की क्रिया व्यर्थ है। जैसे एक पंगु वन में लगी हुई आग को देखते हुए भी भागने में असमर्थ होने से जल मरता है और अंधा व्यक्ति दौड़ते हुए भी देखने में असमर्थ होने से जल मरता है।

भगवान महावीर की धर्म-क्रांति की मुख्य उपलब्धि है— उन्होंने ईश्वर की जगह कर्म को प्रतिष्ठा दी। उन्होंने भक्ति के स्थान पर सत्कर्म व सदाचार का सूत्र दिया। उन्होंने कहा—

“सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णफला भवन्ति।

दुचिण्णा कम्मा दुचिण्णफला भवन्ति॥”

—औपपातिक सूत्र ७१

अर्थात् अच्छे कर्म अच्छे फल देनेवाले होते हैं और बुरे कर्म बुरे फल देने वाले होते हैं। मनुष्य अपने संचित कर्मों के अनुसार ही सुख-दुख प्राप्त करता है—

“जमिणं जगई पुढो जगा, कम्मेहिं लुप्पंति पाणिणो।

सयमेव कडेहिं गाहइ, नो तस्स मुच्चेज्जपुट्ठयं॥”

—सूत्रकृतांग सूत्र १, २/१४

अर्थात् इस जगत् में जो प्राणी हैं, वे अपने-अपने संचित कर्मों से ही संसार भ्रमण करते हैं और किये हुए कर्मों के अनुसार ही भिन्न-भिन्न योनियों में जन्म लेते हैं। फल भोगे बिना उपार्जित कर्मों से प्राणी का छुटकारा नहीं होता।

कर्म-बंध का मूल कारण राग-द्वेष की प्रवृत्ति है—

“रागो य दोसो वि य कम्मबीयं, कम्म च मोहप्पभवं वयंति।
कम्मं च जाई-मरणस्स मूलं, दुक्खं च जाई मरणं वयंति॥”

—उत्तराध्ययन सूत्र ३२:७

अर्थात् राग और द्वेष कर्म के बीज (मूल कारण) हैं। कर्म मोह से उत्पन्न होता है। वह जन्म-मरण का मूल है, जन्म-मरण को दुःख का मूल कहा गया है। साधक के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने मन पर नियंत्रण करे। भगवान ने कहा—

“पहावंतं निगिण्हामि, सुयरसस्सी-समाहियं।

न मे गच्छइ उम्मगं, मगं च पडिवज्जई॥”

—उत्तराध्ययन सूत्र २३/५६

अर्थात् भागते हुए दुष्ट अश्व को मैं ज्ञान-रूपी लगाम के द्वारा अच्छी तरह निगृहीत करता हूँ। इससे मेरा अश्व उन्मार्ग में — गलत रास्ते पर नहीं जाता। वह ठीक मार्ग को ग्रहण करता हुआ चलता है। मन के बारे में कहा गया है—

“मणो साहस्सिओ भीमो, दुट्ठसो परिधावई।

तं सम्मं तु निगिण्हामि, धम्मसिक्खाइ कथंगं॥”

—उत्तराध्ययन सूत्र २३/५८

अर्थात् मन ही वह साहसिक (दुःसाहसी), रौद्र (भयावह) और दुष्ट अश्व है, जो चारों ओर दौड़ता है। मैं उसे कन्थक उच्च जाति सम्पन्न, सुधरे हुए अश्व की भाँति धर्मशिक्षा द्वारा अच्छी तरह निगृहीत, नियंत्रित करता हूँ।

आज का मानव समझता है कि संसार के भौतिक साधनों द्वारा ही सुख मिल सकता है। अतः वह उनकी प्राप्ति व अभिवृद्धि में अपनी पूर्ण शक्ति लगा देता है। इच्छाओं को बढ़ाते जाना, उनकी पूर्ति के लिए उत्पादन के साधनों की वृद्धि करते जाना तथा उनके द्वारा इच्छाओं के तृप्त करते जाना यही भोगवादी मनुष्य का जीवन-क्रम है। भगवान महावीर ने कहा कि सभी भौतिक साधन मनुष्य को सुख देने में असमर्थ हैं—

“सव्वं जगं जइ तुहं, सव्वं वा वि धणं भवे।

सव्वं पि ते अपज्जत्तं, नेव ताणाय तं वे॥”

—उत्तराध्ययन सूत्र १४/३९

अर्थात् यह सारा जगत् और यह सारा धन भी तुम्हारा हो जाय तो भी वे सब अपर्याप्त ही होंगे और न ही ये सब तुम्हारा रक्षण करने में ही समर्थ होंगे।

लेकिन इस विवेचन का यह अर्थ यह नहीं लेना चाहिये कि जैनधर्म के सिद्धान्त अव्यावहारिक तथा आधुनिक जीवन से मेल नहीं खाते। यह एक अत्यंत भ्रांत धारणा है, जिसका निराकरण होना आवश्यक है।

भगवान महावीर ने धर्म-प्रचारार्थ चतुर्विध संघ की स्थापना की। श्रमण-श्रमणी, श्रावक और श्राविका। उन्होंने श्रमण-श्रमणियों के लिए पंच महाव्रतों का पालन करना अनिवार्य बतलाया तथा काफी कठिन चर्या का निर्धारण किया। इसका कारण था श्रमण-श्रमणियों को आत्म-साधना के कठिन मार्ग में जीवन व्यतीत करना था। वे किसी एक स्थान पर (चातुर्मास के काल के अतिरिक्त) नहीं रह सकते थे तथा पैदल विहार करते थे। अपने साथ में संयम-साधना के लिए आवश्यक उपकरणों के अतिरिक्त कुछ नहीं रख सकते थे।

लेकिन गृहस्थों के लिए उनके नियम अपेक्षाकृत सरल थे। श्रावक से उनकी अपेक्षा थी कि वह पाँच अणुव्रतों का पालन करे। प्राणी वध (हिंसा), असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य व अपरिमित करना (परिग्रह) इन पाँच पापों से सापवाद अपने सामर्थ्य के अनुसार विरत होना अणुव्रत है। इसी प्रकार उससे तीन गुण-व्रतों एवं चार शिक्षाव्रतों का पालन करने की अपेक्षा की जाती है। श्रावक का जीवन पूर्णतः सदाचारयुक्त होना चाहिये। वह प्रामाणिकता सच्चरित्रता से जीवन बिताये यह अपेक्षित है। विशेषतः उसके लिए सात प्रकार के दुर्व्यसनों से विरत रहना आवश्यक है। ये व्यसन हैं—

“जूयं मज्जं मंसं वसा, पारद्धि चोर परयारं।
दुग्गइ-गमणस्सेदाणि, हेड भूणाणि पावाणि।।”

—वसुनन्दि श्रावकाचार, ५९

अर्थात् जुआ, मांस-भक्षण, वैश्यागमन, मद्यपान, शिकार, चोरी और परस्त्री सेवन-ये सात व्यसन हैं। मांसाहार से दर्प-उन्माद बढ़ता है। दर्प से मनुष्य में मद्यपान की अभिलाषा जगती है और तब जुआ खेलता है। इस प्रकार एक मांसाहार से ही मनुष्य उपर्युक्त अनेक दोषों को प्राप्त हो जाता है।

आज भारतवर्ष में लगभग एक करोड़ व्यक्ति जैन धर्म का पालन करते हैं। यह विश्व का सबसे बड़ा शाकाहारी संगठन है। प्राचीनकाल में अनेक राजा, महाराजा एवं व्यवसायियों ने इस धर्म का पालन किया तथा सफलतापूर्वक अपना जीवन बिताया था और सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त की थी। मौर्यकाल, नन्दवंश एवं गुजरात तथा कलिंग के अनेक शासक महावीर के अनुयायी थे एवं उन्होंने अनेक युद्धों में भाग लिया था। महान योद्धा चामुण्डराय १७ युद्धों में लड़े थे तथा विजेता बने थे।

इस प्रकार जैन धर्म कर्तव्य-पालन से विमुख रहने की शिक्षा नहीं देता। जैनधर्म कहता है कि आहिंसा शूरवीरों का धर्म है, कायरों का नहीं।

जैनधर्म पुरुषार्थवादी धर्म है। यह प्रत्येक क्षेत्र में विवेकपूर्वक कार्य करने का निर्देश देता है। जो विवेक पूर्वक कार्य करता है, वह कर्मबंध नहीं करता। दशवैकालिक सूत्र में कहा है—

“जयं चरे, जयं चिट्ठे, जयमासे, जयं सए।

जयं भुजुंतो भासंतो, पावकमं न बंधई।।”

—दशवैकालिक सूत्र ४/८

अर्थात् साधक विवेकपूर्वक चले, विवेकपूर्व खड़ा हो, विवेकपूर्वक सोये। इस प्रकार विवेकपूर्वक सब क्रियाओं को करता हुआ विवेकपूर्वक भोजन करता हुआ व संभाषण करता हुआ वह पाप कर्म का बंध नहीं करता।

भगवान महावीर के उपदेश मानव को मैत्रीपूर्ण, नैतिक एवं प्रामाणिक जीवन जीने की प्रेरणा देते हैं। अहिंसा, समता, सरलता एवं अपरिग्रह के सिद्धांतों का पालन करने से व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन का शांतिपूर्ण ढंग से विकास हो सकता है तथा विश्व में शान्ति की स्थापना हो सकती है।

